विषय-सूची

की मेरी व्याकुलता का तनिक अनुमान तो करो मेरे प्राण ! युग-युग की वेदना का लय हो गया उस प्रेम की अधीरता में। अधिक नहीं लिख सकती अपनी उस दशा पर, बस, इतना ही कि—

> वही समझेगा मेरे ज़ख्मे-दिल को,
> जिगर पर जिसके इक नासूर होगा।

लगन की आग का धुआँ कौन देख सकता है ? उसे या तो वह देखता है, जिसके अंदर वह जल रही हो, या वह देखता है, जिसने वह आग लगाई हो। हृदय का प्रेम तो प्रकट नहीं किया जा सकता। सीने के अंदर-ही-अंदर एक ज्वाला दहकती रहती है। उसका धुआँ बाहर नहीं निकलता, प्रकाश में नहीं आता। किसी कवि ने कहा है—अव्यक्त प्रेम पवित्र होता है। जिसके जिगर में कसक है, प्रेम की रस-भरी हूक है, वह शोर करता नहीं फिरता, चिल्लाता नहीं घूमता। वह तो स्वतः मूक हो बैठता है। और, फिर प्रेम का वास्तविक रूप कभी प्रकाशित भी तो नहीं हो सकता। प्रेम तो गूँगा होता है। ऊँचे [illegible] की तो केवल मुसकानें और [illegible] बोलती हैं, ज़बान नहीं। मेरा भी प्यार—सच, सच, अनन्त और अपार प्यार—ऐसा ही है। हृदय में धधकता है, [illegible] प्यार को [illegible] [illegible] कौन अपने [illegible] [illegible] कर सकता है ? इस [illegible]

हैं, प्रेम के गाने गाते हैं, परंतु किसी के हृदय के भेद को किसी के चाह-भरे दिल ही जान सकते हैं। प्रेम के सिद्धांत स्थिर करने में बड़े-बड़े दार्शनिक व्यस्त रहते हैं, परंतु प्रेम के विमल दर्पण में हम कभी-कभी उसे ही देख लिया करते हैं, जिसकी स्वयं हमें कोई कल्पना तक नहीं होती। बिना किसी कारण के किसी व्यक्ति को किसी स्थान पर पहली ही बार देखकर हमारे हृदय में जो एक अमंद, उत्साहमयी, अलौकिक, आनंदप्रद स्नेह-सान्त्वना उत्पन्न हो जाती है, क्या वह यह विश्वास करने योग्य नहीं कि उस व्यक्ति के साथ हमारा अवश्य ही कोई जन्मांतर का सौहार्द रहा होगा? हमारे-तुम्हारे परिचय की यह कहानी, जिसे तुम कहते हो— 'जीवन में बचपन से लेकर अब तक कितने लोग आए, और चले गए, परंतु कुछ को छोड़कर शेष की स्मृति हमें क्यों नहीं सताती"—वो जन्मांतर सौहार्द का विषय है। हर किसी के भाग्य में यह कहाँ है? क्या मैंने जब पहली बार तुम्हारे मुख पर दृष्टि डाली थी, तब हमारे पारस्परिक विचार कुछ ऐसे ही नहीं मिल गए थे? यद्यपि यह मुझे इस समय स्मरण नहीं आ रहा कि कब और किस समय तुम्हें पहली बार देखा, किंतु इतना जानती हूँ कि परिचय के प्रथम ही दिन मुझे ऐसा लगा, जैसे तुम मेरे चिर-परिचित हो, और तुमने मेरे हृदय और वाणी में किसी अज्ञात काल में वास किया था। इस भाव में ही मेरे हृदय की कहानी निहित है। तुम्हीं

और अंत मे यह नश्वर शरीर भी जलकर राख हो जाता है, खाक मे मिल जाता है, फिर भी दीवानों की उजड़ी हुई दुनिया यह दुनिया नही बसने देती। अपने बनाए हुए ग़लत-सही उसूलों पर ताजिंदगी अड़ी रहनेवाली दुनिया अपने सामने किसी की होली जलते देखकर भी अट्टहास करती है, अपने व्यर्थ आदर्शों की रक्षा पर नाज़ दिखाती है। इसी से तो कहती हूँ मेरे प्राण, हम-तुम भी एक दिन खाक हो जायँगे। ऐसी जगह चले जायँगे, जहाँ से फिर आना न होगा। सदा के लिये चले जायँगे। तो आओ, क्यों न हम दोनो जीवन-पथ के पथिक एक ताल से, एक स्वर से, सधे हुए कंठ से, गले से गला मिलाकर गाते चलें अपने हृदय का जलता हुआ संगीत! इस निर्दय दुनिया को सुनाते चले कि सबकी अभिलाषा, आशा और आकांक्षा का, साध का एक ही परिणाम है जब हाहाकार, खाक, तो पागल! जो दिन तेरे सामने हैं, उन्हे हँसकर बिता। जो राते हैं, उन्हे सुख के साधनों से, स्वप्नो से भर दे। चौबीस घंटों के तीन सौ पैंसठ दिनवाले जीवन के कुछ इने गिने वर्ष बीत जायँगे, और अपने आदर्शों तथा सिद्धांतो को लेकर तू जहाँ-का-तहाँ पड़ा रह जायगा। पंचतत्त्वों का निर्मित पुतला पंचतत्त्वों में मिल जायगा पर उसकी छोटी-सी स्वप्निल अनुभूतियाँ पूरी न हो पाएँगी। सारी हसरतों आरज़ुओं और तमन्नाओं को लिए वह मानव किसी अज्ञात लोक को प्रयाण कर जायगा पर तेरे कारण वह दो पल भी

पत्र—२

मेरे जीवन,

तुम्हारा वही पत्र, जिसके प्रत्येक शब्द में समस्त सुमन-समूह का सौरभ निहित है, समस्त मधुरताओं की माधुरी सनी है, जिसमें मनोहर संगीत की ध्वनि है, कोयल की-सी मस्ती है, पपीहे की-सी वेदना है, जल-प्रपात का-सा प्रवाह है, और आँधी का-सा वेग है, जिसे पाकर मेरा हृदय उछलने लगता है, जिसके प्रत्येक वाक्य मुझे तन्मयता की दुनिया में खींच ले जाते हैं, वही प्यारा पत्र मेरे अँधेरे मानस में ज्योति बरसाता हुआ यथासमय मिल गया था। परन्तु उत्तर में विलम्ब थोड़ा नहीं अधिक हुआ प्रिय ! इसके लिये क्या तुम मुझ अभागिनी को क्षमा नहीं करोगे ? यदि नहीं तो मुझे शांति न मिलेगी। इस पीड़ित [illegible] हृदय की यह दशा [illegible] हो उठी। जानती हूँ तुम [illegible]

को सहसा ही कोई अतुलनीय कुवेर का भंडार मिल जाय, चिर-विरही को उसकी प्रणयिनी के अलस-शिथिल बाहुओं का वंधन मिल जाय, निराशा की घनी अँधियारी में आशा की प्रज्वलित रेखा मिल जाय, क्या कुछ ऐसा ही सुख मुझे तुम्हें पाकर नहीं मिल गया ? इसीलिये तो आज तुमसे इतना प्यार करने लगी हूँ। न-जाने कहाँ, किस लोक में अपनी दुनिया अलग लिए पड़ी थी। वहाँ न कोई 'अपना' था, न किसी को 'अपना' बनाने की इच्छा ही रह गई थी। चारो ओर था नियंत्रण, शासन, बंधन, धर्म और कर्तव्य का पाश। जीवन की एक ही गति-विधि से घबरा-सी चली थी। सोचने लगी थी कि क्या कभी इस मैशीन की भाँति संचालित जीवन में सरसता भी आएगी ? क्या इस दग्ध जीवन में कभी पावस की रिमझिम भी होगी ? लेकिन जाने कैसे, कब, छिपे-छिपे तुम आए, और उस कारागार से मुझे मुक्त कर दिया। मेरा हाथ पकड़कर, मुझे उस दुनिया से खींच लाकर बाहर खड़ा कर दिया। सारी बाधाओं में, समस्त कर्तव्य की शृंखलाओं में मुझे एक अनजान सुख मिलने लगा, एक अनिर्वचनीय आनद। बंधन सरस हो उठे, जीवन की गाडी के पहिए ढीले चलने लगे। मेरा हृदय चिल्ला उठा—नहीं, तू अकेला नहीं है, तेरा भी कोई है।

लेकिन मैं क्या अनर्गल बातें कह रही हूँ मेरे सर्वस्व ! क्या व्यर्थ की बातें लिख रही हूँ ? स्वप्न भी कभी पकड़े गए हैं।

दिल-दर्द सुनाऊँ अभी मैं, कोई
सुनने के लिये तैयार तो हो।

कितनी वेदना है, कैसी यंत्रणा है। पूर्व-स्मृति की काली छाया पड़ रही है। हृदय पर जैसे कोई शिलाखंड रक्खा हो, और हथौड़े चला-चलाकर कोई उसे तोड़ रहा हो। मेरा यह अंतराकाश, कभी, किसी दिन स्वच्छ और निर्मल भी था ? मैंने तो सदा ही इसे मेघाच्छन्न पाया। न-जाने कब से काली-काली घटाएँ उमड़-घुमड़कर घनीभूत होती आ रही हैं। अस्पष्ट, धूमिल स्मृतियाँ जाने किस युग से क्रम-विहीन मन के साथ आँख-मिचौनी खेल रही हैं। इस जीवन-जलनिधि की तरंगों को सदैव अनवरत गति से अपने छोटे-छोटे, सामर्थ्य-हीन हाथ-पाँवों से दूर फेंकने जाने के प्रयास में ही यह जीवन बीत रहा है। कहीं विराम नहीं, अंत नहीं, तृप्ति नहीं। एक हाहाकार, एक अनवरत रोदन यहाँ परिव्याप्त है। लोग कहते हैं जीवन [illegible] नहीं [illegible]
[illegible]

पत्र—३

मेरे देवता,

दो पत्र भेजने के बाद, अहर्निश आँखे बिछाकर प्रतीक्षा की घड़ियाँ गिनने के बाद तुम्हारा पत्र मिला। मेरी उस बेकली का यदि तुम कुछ भी अनुमान कर पाते, तो संभवतः मुझे प्रतीक्षा में रखने की निर्दयता न करते। तुम्हारे लिये मन मे जो एक विचित्र भाव अपने आप ही उत्थित हो गया है, वह तो रात-दिन चुभ-चुभकर कलेजे मे टीसा ही करता है। जी करता है, प्रातः-सायं, दिवा-निशि तुम्हारे सामने ही बैठी रहूँ, तुम्हारी मीठी-मीठी बातें सुनती रहूँ, तुम्हारे उन्मुक्त हास्य की सरिता मे स्नान करती रहूँ। तुम्हारा पत्र पाते ही हृदय एक नवीन उल्लास से भर जाता है। मैं निहाल हो जाती हूँ। आँखों मे एक ज्योति, अपूर्व ज्योति चमक उठती है, प्यार और ममता के कोमल चरणों के नीचे मेरे सारे अरमान बिखर जाते हैं। सारी लालसाएँ उग्र रूप में ललक पड़ती हैं। हृदय विद्युद्गति से पत्र के प्रत्येक अक्षर को अपने मे रख लेने के लिये आकुल-व्याकुल हो जाता है। आँखें अधीर हो जाती हैं उसे पढ़ने के लिये। होठ उसके अंतर्निहित, सुधा-सिक्त शब्दों के मधुर रस को चूस-चूसकर पान करने के लिये फड़कने लगते हैं।

भी एक नया जीवन होगा। इस आत्मत्याग मे ही मुझे एक उच्चतम आत्मतृप्ति होगी। परंतु, फिर सोचती हूँ, क्या मै ऐसा कर सकूँगी ? अपने समस्त मधुर प्यार से क्या तुम्हारे विदग्ध हृदय को पल-भर भी शांति दे सकूँगी ? आह, इस प्रश्न के उत्तर मे मेरी सारी सुकुमार भावनाएँ पागल होकर रोने लगती हैं ! हृदय के इस भोलेपन मे वेदना चीख उठती है। इस हृदय के इस पागलपन को कौन समझाए ? कौन इसे बतलाए कि जीवन में जिसकी संभावना नहीं, उसके लिये पुकार मचाना अच्छा नहीं।

तुम्हारे करुण संगीत की रागिनी सुनकर मेरे हृदय में न-जाने क्या होने लगता है। देह के भीतर प्राण पिंजर-बद्ध विहंग की भाँति न-जाने क्यों छटपटाने लगता है। तुम्हारे शब्दों को पढ़ती हूँ, उन्हे मन-ही-मन गुनती हूँ, और फिर अनुभव करती हूँ। दिवा-निशि जो नैराश्य-परिपूर्ण कातर स्वर तुम्हारे हृदय को घेरकर हाय-हाय करता रहता है, उसी को दो घड़ी सुनकर कान तृप्त कर लेती हूँ। जिसका जीवन एक अनवरत रोदन हो, अशांति की विराट् क्रीड़ास्थली हो, जिसका ऐश्वर्य कुंठित कल्पनाओं का ही एक कोष हो, और जिस ध्वस्त साम्राज्य की सारी विभूति मेरे हृदय मे बजती हुई किसी मधुर अतीत की मादक रागिनी हो, वह उस महा-प्रलय की विदग्धता को किस प्रकार व्यक्त करे ? मेरे अतीत इतिहास की स्मृति तुम किसी दूर प्रदेश मे बैठे हुए क्यो

[illegible]

[illegible] हो जाती है, पर हाय, मैं [illegible] नहीं सकती। मेरी सारी शक्तियाँ, देखती हूँ, शिथिल हो गई हैं। आँखें [illegible] आनन्द अनुभव करते हुए भी मैं स्पर्श [illegible] नहीं कर सकती। दुःखी हूँ आशा—नहीं-नहीं, वह आशा कब छोड़ती है, आशा के एक क्षीण आवरण के भीतर छुपी हुई आशा - फिर भी धड़क उठती है। दग्ध हृदय और भी दग्ध हो जाता है। लेकिन मेरे जीवन-धन, न जाने क्यों इसमें भी कुछ सुख सा मिलता है। इस जलन में भी शान्ति मिलती है, अभाव में भी तृप्ति का अनुभव होता है। स्मृति के झकोरों में हृदय की व्यथा बढ़ने लगती है। आँसू बरसने लगते हैं।

जब कोई देख नहीं सकता, कोई सुन नहीं सकता, कोई अनुभव नहीं कर सकता, उस समय अकेले, इस पवित्र दुनिया में दूर, कैसे बैठकर रोने में कितना अतुल सुख मिलता है मेरे प्रिय! वेदना जब घनीभूत होती है इस छोटे-से हृदय में नहीं समा पाती, तब वह, समय-असमय जगह बेजगह फूट निकलती है। अभी उस दिन की बात

है। मेरे यहाँ मेरी माताजी की नातेदारिनें आई हुई थीं। तुम जानते हो, हिंदू-समाज-शास्त्र के अनुसार उन्हें मुझे भी अपना नज़दीकी मानना ही चाहिए। तो उनमें सब मेरी हमजोली ही थीं। रात को सिनेमा देखकर लौटने पर मैं और मेरा एक 'अपना', जिसे उन संबंधियों में सबसे अधिक निकट बना सकी थी, खोए-खोए के-से रह गए। मैं ऊपर जबरन् अपने हृदय को दबाए, और वह नीचे घर के सामने बाग़ में आराम-कुर्सी डाले चुपचाप पड़ा हुआ। ऊपर व्योम में चाँद विहँस रहा था, नीचे नीरव पड़ी धरती शायद चाँदनी में स्नान कर रही थी। अभी-अभी तो उस बेचारी को स्नान का अवकाश मिला था। वह वहाँ पड़ा-पड़ा जाने किन विचारों में उलझा हुआ था, और मैं सोच रही थी—इतना बड़ा मकान, इतने नौकर-चाकर, मोटर, इज़्ज़त, सगे-संबंधी, रूप और यौवन। फिर भी यह युवक अकेला! ये सब सुख के साधन क्या एक साथ ही इसके लिये व्यर्थ नहीं हो पड़े हैं ? हाँ, तो यही कह रही थी कि जिस समय विश्व की समस्त चेतन शक्तियाँ जड़ हो पड़ती हैं, उस समय केवल अपने ही पास बैठकर रोने में कितना सुख मिलता है। और, मुझे तो वही सुख तुम्हारी रागिनी में मिलता है। गंभीर वेदना के साथ आनंद, चिर-निर्वासित के कानों में जैसे कल्पसंगीत, दुःख के अवसान में मानो सुख की प्रचंड ज्योति, चिरविरही को मानो प्रणय का पुण्य शब्द

दिखाना दिल का काम है। हँसी को जड़ता में बदल देना दिमाग़ के लिये आसान है, मगर जीवन की चिरव्यापिनी रुदन-सरिता को हास्य की धारा में परिवर्तित कर देना दिल के ही बाँटे है। हम यही कहते हैं कि दुनिया में जितने दिन ज़िंदा रहना है, उतने दिन दिल की पूरी ताकत के साथ हँस-खेलकर काट देना ही अच्छा है। हम यही कहते हैं कि हँसो और ख़ूब हँसो। जब तक आँखों में आँसू न आ जायँ, तब तक हँसते रहो। जब जीवन की कटु अनुभूतियों से घबराकर, संसार के दुःखों से बेताब होकर और ज़िंदगी के ऊपर छाई हुई काली घटाओं से ऊबकर तुम्हारी आत्मा रोना चाहे, तो उस समय ज़ोर से अट्टहास करके पागलों की तरह हँस दो। अपने को आनंद के सागर में एकदम डुबा दो। अकेले में बैठकर रात की तारीकी और सुबह के सूने पहरों में विसूरते रहो, लेकिन दुनिया के सामने जब आओ तब हँसता हुआ चेहरा लेकर। तभी तुम इस दुनिया में रहने के काबिल होगे। तभी तुम कामयाब होगे और दुनिया में तुम्हारा [illegible]

[illegible]

जिसकी भरी जवानी में आग लग गई है, झूठे आदर्शों की बलि-वेदी पर जो जबरन् चढ़ाया गया है, दिल में प्रलय मची होने पर भी जिसे अधरों पर हँसी लानी होती है, वही व्यक्ति मस्तिष्क की डिक्टेटरशिप का अंदाज लगा सकता है। एक जलनेवाले की व्यथा समझने के लिये, उसका दर्द पूरी तरह जानने के लिये, उसकी-जैसी ही जलन चाहिए। स्वयं घायल, तड़पता हुआ दिल ही उसे पूरी तरह पा सकता है। लेकिन स्वर्गीय श्रीप्रेमचंदजी के शब्दों में—"मस्तिष्क में दर्द कहाँ, दया कहाँ ? वहाँ तो तर्क है, हौसला है, मंसूबे हैं।"

काश, दुनिया के दिमाग़वाले, मस्तिष्क की तराज़ू पर सब वस्तुओं को तोलनेवाले लोग दिल को पहचान पाते।

यह समस्या !

प्यारी वहन, सुखी रहो !

आज तुम्हे यह पहला पत्र लिख रहा हूँ। तुम कहोगी, पत्र भी लिखना आरंभ किया, तो कैसे विषयों पर; पर याद रक्खो, मेरे लिये इससे बढ़कर आनंद, गौरव, उल्लास और महत्त्व की वस्तु शायद ही कोई होगी कि मेरी बहन, दुलारी वहन, एक आदर्श स्त्री है। वास्तविक 'नारी' है। मैं तुम्हें इसी रूप मे, निर्मल नारीत्व की आभा से दमकती, देखना चाहता हूँ। तुम्हे स्मरण होगा, मैंने इसके लिये कितनी चेष्टाएँ की थीं, तुम्हे पढा-लिखाकर, संसार मे आँखें खोलकर चलनेवाली बनाना चाहा था। तुम मेरी सगी न होते हुए भी सगी हो। किंतु कुछ परिस्थितियाँ ऐसी आ पड़ीं, जिनसे मैं अपनी इच्छाओं और कामनाओं को कार्यान्वित न कर सका, और तुम मेरे लिये भी अ-सगी ही बनी रह गई। अस्तु। आज फिर उन्हीं अभिलाषाओं के वशीभूत होकर यह पत्र लिखना आरंभ कर रहा हूँ। यह मानी हुई बात है कि तुम अब पराई होने जा रही हो। अब इस घर से, इस परिवार से तुम्हारा उतना संबंध न रह जायगा, जितना उस नए घर और परिवार से। ऐसी अवस्था मे मैं केवल यही चाहता हूँ कि तुम इन पत्रों को ध्यान-पूर्वक पढो,

तुम क्या हो ?

सुनो और सीख ग्रहण करो। मैं धीरे-धीरे तुम्हें स्त्री-जीवन की सभी आवश्यक बातें, जो प्रतिदिन हमारी ललनाओं के समक्ष उपस्थित होती रहती हैं, बतलाने की चेष्टा करूँगा। कुछ बातें ऐसी होंगी, जिन्हें यदि हमारे बड़े-बूढ़े सुनें, तो अनर्थ हो जाय; किंतु स्मरण रक्खो, अब पुराना ज़माना लद गया। अब आँख-कान खोलकर ज़माने की रफ़्तार के साथ चलना होगा। तभी कल्याण है। नीरस आदर्शवाद और थोथे सिद्धांतवाद की दुहाई देते फिरने और संसार की प्रगतियों की ओर से कान बंद कर लेने से अब कोई लाभ नहीं।

पहली समस्या, जो लोगों के सामने आती है, 'प्रेम' है। प्रत्येक स्त्री और पुरुष के जीवन में एक समय ऐसा आता है, जब वह प्रेम करता है। उस समय उसे संसार तुच्छ जान पड़ता है। किंतु लोग बिना समझे-बूझे इस पथ पर पाँव बढ़ा देते हैं। तुम लोगों के सामने स्त्रियों के सामने प्रेम का बड़ा महत्त्व है। इनके लिये प्रेम की वार्ता बड़ी मर्मस्पर्शिनी, बड़ी सुखदायिनी होती है और यह आवश्यक एवं ठीक भी है। 'प्रेम'-सी पवित्र और महान् वस्तु को कलंकित कहकर स्त्रियों को उससे दूर-दूर रहने का उपदेश देने का पक्षपाती मैं नहीं। यह अनुचित है। इसका उन्हें पूरा-पूरा अनुभव और ज्ञान होना चाहिए। हाँ, प्रेम का मूल रूप विकृत होकर आज-कल वासना में परिणत हो गया है और देश की भावी आशाएँ उसी भ्रष्ट रूप को ग्राह्य समझकर उसी पथ

तुम क्या हो ?

विश्व की समस्त शक्तियाँ इसी महामंत्र का जप करती हैं, आकाश के समस्त नक्षत्र इसी सूत्र में बँधे हुए हैं। गंगा की लहर-लहर में प्रेम बहता है, कोटि-कोटि कर्ण-कुहरों में वायु प्रेम की सुमधुर, मादक रागिनी गुनगुनाती रहती है। मधुप इसी के वशीभूत होकर नलिन में बंदी होता है, पतंग इसी रस से मत्त होकर दीपक पर प्राण होम देता है। कवि की भावु-कता की एक-एक हिलोर इसी की प्रतिच्छाया है, संगीतज्ञ की रागिनी में निरतर इसी की आत्मा है। चित्रकार की कूचियों द्वारा विविध रगों की चित्रपटी पर इसी शब्द की आभा झलक उठती है।

फिर तुम पूछोगी, प्रेम अपवित्र क्यों कहा जाता है? लोग अपावन चेष्टा को, काम और मोह को ही, प्रेम का नाम दे बैठते हैं। यही अपवित्र प्रेम आगे चलकर उनके नाश का कारण होता है। विना पवित्रता के प्रेम सभव नहीं, प्रेम सर्वदा पवित्र और नि स्वार्थ है। प्रेम करने के पहले यह देख लो कि तुम्हारे मन में कोई कुवासना तो नहीं है। प्रेम के स्वच्छ, निर्मल दर्पण पर कोई काला दाग तो नहीं है। यदि है, तो उसे दूर करने की चेष्टा करो। पहले हृदय शुद्ध करो तब प्रेम-पथ पर पाँव बढ़ाओ। ऐसे सात्त्विक प्रेम से तुम्हें सच्ची शाति प्राप्त होगी।

लोगों की यह धारणा बन गई है जो कुछ अंशों में ठीक भी हो सकती है कि प्रेम सदा पतन की ओर ही ले जाता है, किंतु यह सदा स्मरण रहे कि जो प्रेम वासना से जितना ही

दूर होगा, जो जितना ही पवित्र होगा, वह उतना ही सुख-दायक, उन्नति की ओर ले जानेवाला तथा निर्वाण-प्राप्ति का साधन होगा। पहले देखा, तुम्हारा प्रेम तुम्हे अपने कर्तव्य-पथ से डिगाता तो नहीं, तुमसे कुछ अनुचित तो नहीं करा डालता, मन मे द्वेषादि की वृद्धि तो नही करता ? यदि वह तुम्हे तुम्हारे कर्तव्य-मार्ग पर चलने मे निरंतर उत्साहित करता हो, तुम्हारे मन मे अनुचित बातों के लिये स्थान ही न रह जाय, द्वेषादि त्यागकर तुम्हारे हृदय मे विश्व-भर के लिये स्थान हो, तो तुम्हारा प्रेम अनुकरणीय है, सच्चा और आदर्श है। यदि ये गुण नहीं, तो कुछ दिन अभ्यास करो, ये गुण अपने मे लाने की चेष्टा करो, फिर देखो, तुम्हे कैसी सुखद शांति मिलती है। प्रेम के झूठे रूप को ग्रहण करने से बड़ी भयकर हानियाँ होने की संभावना रहती है। प्रेम जब आरभ होता है, उस समय उसमे वासना का नाम भी नहीं रहता; किंतु वही बढते-बढते पूर्ण रूप से वासना के कीच मे सन जाता है। जिसका मन कुवासना और कुचेष्टाओं की ओर गया, वह फिर किसी काम का नहीं रह जाता। उसके मन के समस्त अच्छे विचारों, महत्त्वाकांक्षाओं और सद्वासनाओं पर पानी फिर जाता है। अपने उज्ज्वल भविष्य के जो सपने उसने अपने मन मे बना रक्खे हैं, वे उड़ जाते हैं, और उसका जीवन वेदना, परिताप और नैराश्य का क्रीड़ास्थल बन जाता है। हृदय स्मृतियों और अरमानों की समाधि बन जाता है।

तुम क्या हो ?

स्कॉट ने एक स्थल पर लिखा है—"Love rules the court, the camp and grove, And men below and saints above; For Love is Heaven, and Heaven is Love."

कितनी सुंदर उक्ति है। सहृदय और प्रेमी जन ही इसे समझ सकते हैं। प्रेम और प्रेमी की हँसी उड़ानेवाले व्यक्ति इसकी महत्ता नहीं जान सकते। अपने को प्रेम में एकदम लीन कर दो. प्रेम-सागर में बिलकुल डूब जाओ, प्रेम-दीपक पर अपना जीवन होम कर दो, तभी उस स्वर्गीय प्रेम को पा सकोगी। उस प्रेम के लिये अपनी हस्ती ही मिटा दो, अपने प्रेमी के लिये दर-दर की ठोकरें खाओ, जमीन-आसमान एक कर दो देखो. तुम्हारे हृदय में कितना बल आता है। प्रेम भगवान् की वस्तु है, स्वयं मंगलमय. प्रेम रूप भगवान् इसके देवता हैं वह तुम्हारी सहायता करेंगे। संसार की बड़ी-से-बड़ी शक्ति तुम्हारे सामने रोड़े अटकाने की चेष्टा करेगी किंतु प्रेम की शक्ति सबको व्यर्थ प्रमाणित कर देगी। पग-पग पर विपत्तियों का सामना करना होगा क्षण-क्षण पर लाञ्छनाओं, मिथ्या दोषारोपणों से तुम्हारे कान बहरे हो जायँगे लोग तुम्हें दुराचारिणी व्यभिचारिणी कहेंगे पर मत परवा करो विश्व की शक्तियों की दुराचार और व्यभिचार का दोषारोपण करनेवाले कुत्तों की वहीं अखिल विश्व के स्वामी भगवान तुम्हारी सहायता को सदैव खड़े रहेंगे। हां प्रेम हो।

तुम क्या हो ?

उपायो का साधन न करेगे। यह आवश्यक नहीं कि जिसे हम चाहे, वह भी हमे प्यार करता हो। प्रेमी—वास्तविक प्रेमी—इसकी चिंता नहीं करते। उन्हे इससे मतलब नहीं कि उनका प्रेमास्पद भी उन्हे चाहता है, या नहीं। वे स्वय उसकी मूर्ति अपने हृदय-मदिर मे विठाए रहते हैं, और इसी अवस्था मे कभी-कभी प्राण भी त्याग देते हैं। प्रेम छिछोरापन नहीं जानता, प्राण देना जानता है।

वहन, तुम अब घवरा उठी होगी, और सोचती होगी कि इन्हे ये सव वाते लिखने मे लज्जा नहीं आती। मैं सच कहता हूँ, तुम्हे मैं वहुत प्यार करता हूँ, ये सव वातें तुम्हे एक आदर्श स्त्री वनने मे सहायक होंगी। ये वाते वुरी नहीं हैं, इनका नाम वुरा है। इसे दूर करना होगा। साथ ही इस पत्र मे मैंने 'तुम' कई स्थलो पर प्रयोग किया है। उस 'तुम' का मतलव ससार की समस्त स्त्रियों से है। तुम्हारे ज़रिए मैं संसार की अपनी समस्त वहनो से वाते कर रहा हूँ। मै चाहता हूँ कि मेरी प्रत्येक वहन इन वातो को सुने और इन पर मनन करे।

व्याकुलता प्रेम का सबसे बडा लक्षण है। पर इस व्याकु- लता मे उचित अनुचित [illegible] का ज्ञान मत छोड़ो [illegible] तुम्हारा प्रेम वासना [illegible] तुम्हारे मे यह वात आए [illegible] समझो [illegible] तुम्हारा प्रेमास्पद चाहे निकट रहे या दूर हृदय [illegible] [illegible] रहा है [illegible] हृदय मे विठा [illegible] [illegible] उस 'वर्क्स' मूर्ति को हृदय से [illegible] मत जाने। विरह [illegible] [illegible] रहने से [illegible] मत [illegible] [illegible] दूर या निकट [illegible]

प्रेम बड़ा ही रहस्यमय है। मेरी बहन! यह गंभीर है, खिलाड़ी है, और इसमें निरंतर प्रवाहित होनेवाला माधुर्य है। जब सारा विश्व शांति की निद्रा मे सोता हो, चारो ओर निस्तब्धता का अखंड साम्राज्य हो, उस समय भी प्रणयी जागता रहता है, उसके हृदय की ज्वाला नहीं शांत होती। वह उसे शांत करने की चेष्टा भी नही करता, वह तो और भी चाहता है कि वह जले। प्रेम के शिकार इस जलन मे ही सुख मानते हैं, इस ज्वाला को ही अपना धन समझते हैं। वे सबके लिये यही 'मेडिसिन' प्रेसक्राइब करते हैं। इस जलन मे, प्रेमी के लिये हृदय मे उमड़ते हुए इस रस-सागर में डूबने मे जो आनंद है, वह सिवा योग के और कहीं नही मिल सकता। योगी अपने योगाभ्यास से उस परम पिता के पास पहुँचता है, प्रेमी अपने प्रेम मे ही उस प्रेम-स्वरूप भगवान् का प्रकाश पाता है। उसमे व्यग्रता नहीं रह जाती, वह शांत, गभीर और मनस्वी बन जाता है, उसके हृदय मे एक अनिर्वच-नीय शांति छा जाती है, और वह उस प्रेम मे परमानद का सुख अनुभव करता है। वह हँसता भी है, आमोद-प्रमोद भी करता है, किंतु उन सबके मूल मे गभीरता की छाप है। प्रेम उच्छृंखल होना नही जानता। जो उच्छृंखलता दिखाए, उसे जान लो, यह सच्चा प्रेमी नही। प्रेमी अपनी प्रिय वस्तु के लिये जल मरेंगे, भीतर-ही-भीतर हृदय को अरमानो की [illegible]धि बना डालेंगे, पर उसे प्राप्त करने के लिये उच्छृंखल

उपायो का साधन न करेंगे। यह आवश्यक नहीं कि जिसे
हम चाहें, वह भी हमे प्यार करता हो। प्रेमी—वास्तविक
प्रेमी—इसकी चिंता नहीं करते। उन्हे इससे मतलब नहीं कि
उनका प्रेमास्पद भी उन्हे चाहता है, या नहीं। वे स्वय उसकी
मूर्ति अपने हृदय-मंदिर मे बिठाए रहते हैं, और इसी अवस्था
मे कभी-कभी प्राण भी त्याग देते हैं। प्रेम छिछोरापन नहीं
जानता, प्राण देना जानता है।

बहन, तुम अब घबरा उठी होगी, और सोचती होगी कि
इन्हे ये सब बाते लिखने मे लज्जा नहीं आती। मैं सच कहता
हूँ, तुम्हे मैं बहुत प्यार करता हूँ, ये सब बातें तुम्हे एक आदर्श
स्त्री बनने मे सहायक होंगी। ये बाते बुरी नहीं हैं, इनका नाम
बुरा है। इसे दूर करना होगा। साथ ही इस पत्र मे मैंने
'तुम' कई स्थलों पर प्रयोग किया है। उस 'तुम' का मतलब
संसार की समस्त स्त्रियों से है। तुम्हारे जरिए मैं संसार की
अपनी समस्त बहनो से बाते कर रहा हूँ। मै चाहता हूँ कि मेरी
प्रत्येक बहन इन बातो को सुने और इन पर मनन करे।

व्याकुलता प्रेम का सबसे बडा लक्षण है। पर इस व्याकु-
लता मे उचित अनुचित [illegible] का ध्यान मत छोड़ो। [illegible] तुम्हारा प्रेम वासना
[illegible] समझो [illegible] निकट रहे या दूर [illegible] हृदय
यदि तुम्हारे मन मे यह बात [illegible] चाहे [illegible] मे
को और [illegible] रहा है [illegible] मूर्ति को हृदय मे बिठा [illegible] तो
मैं [illegible] मानो। विरह
समय दूर या निकट रहने से [illegible]

इसी सहारे उन्होंने जीवन की समस्त कठिनाइयों पर विजय प्राप्त की।

अब तुम पूछ सकती हो—और पूछना स्वाभाविक भी है कि प्रेम ऐसी महन् वस्तु होते हुए भी, इसमें ऐसी शक्तियाँ निहित रहने पर भी लोग इसका विरोध क्यों करते हैं? प्रेम और प्रेमी पर संसार केवल हँसना ही क्यों जानता है? प्रेमी के वियोग-जन्य दुःख में—पीड़ा में सहानुभूति दिखाने के बदले लोग उसका उपहास क्यों करते हैं? प्रेमी के विरोध में क्यों परिवार, समाज तथा परिजन खड़े हो जाते हैं? प्रश्न ज़रा कठिन है। हम आए दिन प्रेम और प्रेमी की यही दशा देखते हैं। संसार उस पर हँसता है, जहाँ तक बन पड़ता है, उसका उपहास करता है, चारों ओर से उस पर तानों, लाछनों और दुर्वचनों की बौछार होने लगती है और समाज तथा परिवार अपनी कठोर शृंखलाओं को और भी कड़ा करके उसे अपने भयानक बंधनों में बाँध रखना चाहता है। किन्तु यदि हम ध्यान से देखें तो इन सबके मूल में समाज के साथ-ही-साथ हमारा भी बहुत कुछ हाथ है। समाज देखता है कि [illegible] प्रेम के [illegible] लगाते हैं [illegible] करते हैं और कामुकता [illegible] लिया है। [illegible] उसे पाने की चेष्टा करते [illegible] हम ज्ञान-शून्य हो जाते हैं [illegible] रहने की चेष्टा करते हैं [illegible] है। पहले हम उसे देखते [illegible]

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते

हां, मैं देख रहा हूँ, तुम्हारे अधर कुछ हिल-से रहे हैं, आंखों में गर्व की, उल्लास की, उमंग की ज्योति-सी जाग रही है, और तुम कहना चाहती हो—'रमन्ते तत्र देवताः।'

दिन की तपती दोपहरी के आठ घंटे किसी स्कूल, कॉलेज अथवा दफ्तर की दीवारों में जकड़े हुए बिताकर, माथे के स्वेद-बिंदुओं को पोंछते हुए पुरुष जब सहसा घर में आ बैठता है, उस समय तुम उसे क्या दे पाती हो? वर्षा की रिमझिम बूँदों के साथ, पावस-प्रभंजन की लहरों से उड़कर पुरुष की भावनाएँ जब इस मानव-जगत् से दूर, बहुत दूर, जा पहुँचती हैं, उस समय तुम उनके पास कहाँ तक पहुँच पाती हो? और, जब शीत की रात में बाहरी अवयवों के साथ-ही-साथ पुरुष की भीतरी शक्तियाँ भी ठंडी हो उठती हैं, उस समय, उनमें गर्मी फूँकने के प्रयास में तुम कहाँ तक सफल हो पाती हो? कहना पड़ेगा कि तुम इन सत्प्रयासों में सदैव असफल रह जाती हो। इच्छा होते हुए भी उनके 'पुरुषत्व' के भीतर दबा हुआ 'नारीत्व' तुम नहीं जगा पातीं, और जैसे अपनी सीमा में आप-ही आप संकुचित हो रहती हो। उनकी अनुपस्थिति में, उनकी पहुँच से दूर तो जैसे तुम्हारा सहज स्वाभाविक नारीत्व

दो भागों में बाँटनेवाली श्वेत रेखा में सिंदूर की लाली दी गई है। उसके ही अस्तित्व से तुम सुहागिन और पतिवाली कहलाती हो। पर तुमने यह भी सोचने की कभी चेष्टा की है कि तुम्हारे अस्तित्व से वह अपने को 'पति' नहीं समझता। वह 'कुछ और' चाहता है, जिसे देने में तुम अपने को समर्थ नहीं कर पाती हो। इस 'कुछ और' पाने की लालसा ने उसे तुम्हारी ओर से विमुख कर दिया है, और इसी की प्राप्ति की स्वाभाविक कामना ने उसे बाध्य कर दिया है कि वह तुमसे पर्दा रक्खे, और इसकी खोज में 'अपनापन' भूल जाय। वह तृप्ति का वरदान लेकर आया है, अतः प्यासा कैसे रहे !

तुम यदि उससे कुछ पाने की आशा करती हो, तो उसे कुछ दे सकने की क्षमता अपने में ले आओ। उसकी श्रद्धा करके, पति मानकर पूजा करके, चरण पकड़कर तुम केवल उसका आदर प्राप्त कर सकती हो, प्यार नहीं। और, यदि तुमने प्यार न पाया, तो अकेला आदर लेकर क्या करोगी ? तुम रूपवती हो, पढ़ी-लिखी हो, सर्वगुण-संपन्ना हो, यही कारण तुम्हें उसकी नज़रों में ऊँचा नहीं उठा सकता। तुम उसे कुछ ऐसा दे सको, जिससे उसके जी की जलन मिटे, वह यह चाहता है। तुमने तो किसी 'हिंदू संस्कृति' नाम की अज्ञात देवी के निर्जीव संकेत पर चलकर केवल यही सीखा है कि जिसके साथ तुम बाँध दी गई हो, वह फिर चाहे जैसा भी हो, 'ईश्वर' के अतिरिक्त कुछ हो ही नहीं सकता।

सुखद लोक मे ले जा सको, और अवसर पड़ने पर अपने एक सहज कुंचित भ्रू-निक्षेप से ही उसे भारी-से-भारी समर मे विजयी बना सको। पुरुष दुर्बल है, कायर है, नित्य नूतनता का उपासक है। तुम्हारी ही थोड़ी-बहुत भित्ति पर तो वह अब तक अपने को खड़ा रख पाया है। यदि तुम उसे ऊँचा उठाने का सतत प्रयत्न छोड़ दोगी, तो वह निमेष-मात्र मे पतन के गहरे गर्त मे जा पडेगा। किंतु इसके लिये पहले तुम्हे ऊँचे उठना पड़ेगा। झूठी मान-मर्यादाओं के ऊपर, निरर्थक रूढ़ि आदि को कुचलकर जब तुम एक नए साहस, अदम्य उत्साह और निस्सीम लगन के साथ अपने व्यक्तित्व की रक्षा करते हुए अपने को ऊँचा उठा लोगी, तो देखोगी कि यही पुरुष-समाज तुम्हारे चरणों में अपराधी की भाँति पड़ा होगा। तुम नारी हो, महामाया हो, अन्नपूर्णा हो। तुम्हारे भंडार मे, कोष मे प्रेम की कभी कमी नहीं रही। तुम जागोगी, तो सारा समाज जागेगा, और यदि तुम अपने को भूलकर पुरुष के चरणों मे ही सोने का उपक्रम करने लगीं, तो पुरुष ऐसी नींद मे सोएगा, जिसका कभी सवेरा नहीं। तुम पुरुष पर शासन करने के लिये बनी हो न कि उसके द्वारा शासित होने के लिये। जागो बहन ! अब तो जागो ! अब समय आ गया है। देखो, सभी इस पावन मंत्र को भूल बैठे हैं कि नारी में परमात्मा का निवास है। तुम गरज उठो ! विश्व की सारी चेतनता और शक्ति लेकर गरज उठो और उन्हें दिखला दो कि तुम अब भी

भी विचार करना होगा कि ऐसा करने में उस व्यक्ति की स्वाभाविक अनुभूतियों को, उसकी सहज सुकोमल भावनाओं को ठेस तो नहीं पहुँचती। अतः व्यक्ति की रक्षा करना अधिक आवश्यक है, अथवा समाज, देश तथा राष्ट्र के नैतिक आदर्श की। क्योंकि व्यक्ति से समाज बना है, समाज से देश और देश से राष्ट्र या समस्त विश्व। यदि एक विशेष नियम के अंधानुसरण के लिये व्यक्ति का बलिदान कर दिया गया, और यही सिलसिला जारी रहा, तो न तो वह समाज उन्नत हो सकता है, न वह देश समृद्ध हो सकता है, न वह राष्ट्र ही उन्नति की ओर जा सकता है। समाज, देश और राष्ट्र, इन तीन महाशक्तियों के मूल में व्यक्ति ही रहता है। [illegible]

[illegible]

कर जायगी कि चोरी भी न्याय-सम्मत तथा उचित है। कितु अब इस बात की आवश्यकता आ पड़ी है कि हम उस चोर को दंड-विधान की चक्की में पीसने के पूर्व क्षण-भर ठहरकर यह विचार करें कि इस चोरी के मूल में कौन-सी प्रवृत्ति काम कर रही है, कौन-सा आवर्तन घूम रहा है ? यदि यह चोरी अपनी दिनों की पड़ी हुई आदत के वशीभूत होकर की गई है, दूसरों की वस्तुओं को अपना कर लेने की प्रेरणा के कारण हुई है, तो प्रत्येक समझदार तथा तर्कशील व्यक्ति कहेगा कि यह अवश्य दंडनीय है। किंतु यह विचार करने की बात है कि यदि यह चोरी अपने फूल-से कोमल, दूध-पीते बच्चे को अपने ही सामने भूख की ज्वाला से तिल-तिल कर जलते हुए देखकर की गई है, अपनी प्राणाधिक पत्नी को वस्त्र के नाम पर एक तार भी पहने न देखकर की गई है, तब भी क्या यह दंडनीय है ? अपने ही लगाए हुए बाग को बिना जल के पतझड़ बनते देखकर क्या कोई भी हृदयवान् व्यक्ति चुप बैठा रह सकता है ? देश तथा समाज के वर्तमान धनिकों और समृद्धिमानों की मनोदशा और मनोवृत्ति की यह हालत है कि वे वेश्या वृत्ति के लिये लाखों रुपए पानी की तरह बहा देंगे, पंडे और पुजारियों के उदर पोषणार्थ सम्पत्ति लुटा देंगे किंतु किसी वास्तविक पात्र को द्वार पर खड़ा देखकर ऐसा मुँह बनाएँगे जैसे अभी-अभी मुर्दा फूँककर लौटे हों। उन्हें इस बात का क्या अधिकार है कि वे अपने पास अपार

मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों को, उसकी दुर्दमनीय मंजुल भावनाओं को, जिनके सहारे ही वह अपने को पूर्ण कर पाता है, अपने को ऊँचा उठा पाता है, हम दुराचार तथा अनैतिकता का नाम दे बैठते हैं। इन दुराचार-नामधारी प्रवृत्तियों में यौन समस्या (Sex Problem) अपना एक विशेष महत्त्व रखती है। पहले हम इस समस्या के अधिक व्यापक रूप पर एक महात्मा के प्रवचन उद्धृत कर फिर इसके साधारण रूपों पर विचार करेंगे। थियोसोफिस्ट मत के प्रधान गुरु श्रीकृष्णमूर्ति ने, जो आजकल लगभग पैंतालीस वर्ष के हैं, एक बार पोलैंड के प्रसिद्ध लेखक श्रीलांडो के एक प्रश्न के उत्तर में कहा था—"वास्तव में कोई भी कार्य दोष-युक्त नहीं हो सकता, यदि वह आपके हृदय की गुप्ततम अनुभूतियों से संबंध रखता हो। यदि आपकी काम-पिपासा किसी कृत्रिम उपाय से उत्तेजित नहीं की गई है, तो उसकी पूर्ति अवश्य होना चाहिए। ऐसा करने से आपके जीवन में कभी कोई यौन समस्या जटिल रूप धारण नहीं कर पाएगी। इस प्रकार की समस्या तभी खड़ी होती है, जब किसी वास्तविक प्रवृत्ति को हम नैतिक सिद्धांतों तथा मानसिक विचारों से दबाना चाहते हैं। स्वाभाविक प्रवृत्ति को दबाने से कभी कोई भलाई नहीं हो सकती। आत्मसंयम से भी इस प्रकार की समस्या हल नहीं हो सकती। इस प्रयोग से एक समस्या के स्थान पर दूसरी समस्या उठ खड़ी होगी।" आगे चलकर

है। व्यक्ति के इन कार्यों को एकदम अनैतिक तथा दुराचार करार देने के पहले क्षण-भर रुककर समाज को उसकी वास्तविक परिस्थिति पर विचार करना होगा। कोरी दार्शनिकता तथा निरर्थक आदर्शवादिता को एक ओर रखकर यह देखना होगा कि आया वास्तव में समाज की इससे कोई विशेष हानि है या नहीं। और, मज़ा तो इस बात का है कि एक ओर हम इन अनैतिक कही जानेवाली प्रवृत्तियों को कविताओं में वर्णित कर इन्हें प्रोत्साहन देते हैं, तथा दूसरी ओर इन्हें रोकने का निष्फल प्रयास करते हैं। प्राचीन काल से अर्वाचीन युग तक की अधिकांश कविताओं में पर दारा-प्रेम तथा मद्-पान आदि पर अतिशयोक्ति से काम लिया गया है, और इन्हें ही अपने युवक-युवतियों को स्कूल-कॉलेजों में पढ़ा-पढ़ाकर हम उनमें आकाश-कुसुमवत आशा करते हैं कि वे प्रसन्न तथा अच्छे बने रहें।

रक्खा है, उनके तनिक भी प्रतिकूल जाने पर ही हम किसी को अनैतिक और धर्म-विरोधी पुकार बैठते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि इस विषय में पूर्ण विचार के साथ काम लिया जाय। व्यर्थ की नियम-बद्धता का ही यह परिणाम है कि आज कितने ही व्यक्ति एक धर्म की कठोर शृंखला से घबराकर दूसरे धर्म की ओर आकृष्ट होते हैं। किसी प्रचलित नियम के विरुद्ध जाने से ही कोई न तो धर्म-भ्रष्ट हो जाता है, और न उसके ऐसा करने से समाज की कोई बहुत बड़ी हानि संभव है। न तो मूर्ति-पूजा पर विश्वास करने से कोई बहुत बड़ा आस्तिक और देवता हो जाता है, और न उस पर अविश्वास करने से कोई नास्तिक और राक्षस हो। जिस प्रकार मूर्ति-पूजकों से समाज को कोई बहुत बड़ा लाभ नहीं, कुछ पंडे-पुजारियों के उदर-पोषण को छोड़कर, उसी प्रकार मूर्ति-विरोधियों से समाज की कुछ हानि भी नहीं। ईश्वर का अस्तित्व बरबस तो किसी पर लादा नहीं जा सकता। और, सच बात तो यह है कि प्राचीन से अर्वाचीन युग तक का इतिहास यही बतलाता है कि इस धर्म-नामधारी जन्तु ने जितना उत्पात मचाया है, उतना और किसी विषय ने नहीं। जितना उत्पात, जितनी हत्यायें इस धर्म के कारण हुई हैं उतनी शायद ही और किसी कारण से हुई हों। प्राचीन आचार्यों के मतानुसार धर्म वह है, जिसमें मनुष्य की ऐहिक और पारलौकिक कल्याण-भावना हो,

जिससे समाज का सुचारु रूप से संचालन हो, जिसमें कर्तव्य प्रधान है, अधिकार पीछे। मानव के हित-साधनार्थ जो भी कार्य हो, वह धर्म है। सोचने की बात है कि आज का हमारा धर्म यह कर सकने में समर्थ है या नहीं, यदि नहीं, तो जिस प्रकार समय-समय के लिये युग-धर्म भिन्न-भिन्न होते हैं, उसी प्रकार अब समय आ गया है कि प्रत्येक व्यक्ति के अंतःकरण की भावना के आधार पर धर्म को झुकाना होगा।

इस व्यक्ति-स्वातंत्र्य-अपहरण का बहुत कुछ श्रेय हमारी सम्मिलित कुटुंब-प्रथा को है। परिवार में एक प्रधान होता है, जिसे गृह-स्वामी कह लीजिए, और यह माना जाता है कि उसे परिवार के अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक अनुभव, अधिक बुद्धि तथा अधिक योग्यता होगी। वह स्वभावतः चाहता है कि उसकी इच्छा के अनुसार घर का प्रबंध हो, आर्थिक, व्यावहारिक और मानसिक नीतियाँ उसी के संकेतानुसार परिचालित हों, उसकी प्रधानता अक्षुण्ण तथा उसके जीवन-काल तक स्थायी रहे। हम जानते भी हैं कि उनकी अमुक बात उचित नहीं किंतु हम उसे करते हैं केवल यह विचारकर कि वह बड़े हैं, उनकी भावनाओं को ठेस न पहुँचे, ठीक भी है, बड़ों का आदर-सम्मान होना ही चाहिए, उनकी वन्दना, उनके अनुभव का लाभ भी होना चाहिए। किंतु हम स्पष्ट देख रहे हैं कि इस आदर-सम्मान और श्रद्धा के भीतर-ही-भीतर हमारा कितना बड़ा पतन हो रहा।

अशिक्षित समाज हमारे शहरों के समाज से कहीं अधिक सुपरिष्कृत है। ग्रामों में, जहाँ स्वयं कष्ट उठाकर भी लोग दूसरों की सहायता करते हैं, यह समाज हितकर हो सकता है, किंतु हमारे नगरों में, जहाँ सभ्यता के साथ-ही-साथ उसके अनेक दूषणों ने भी प्रवेश पाया है, यह समाज एक तरह से सर्वथा निरर्थक और हानिकारक है। जहाँ लाखों-करोड़ों व्यक्ति सड़कों पर पड़े रातें व्यतीत करते हों, भोजन के नाम पर जिनके मुख में अन्न का एक दाना न पड़ता हो, जिनके सुकुमार बच्चे भूख की यातना से विलख रहे हों, वहाँ समाज की 'परद्रव्येपु लोष्टवत्' की नीति अधिक लागू नहीं हो सकती, जहाँ हजारों 'सीताएँ' निरक्षर 'धोबिनों' के कहने से अपने पतिव्रत के अखंड व्रत से च्युत कर दी जाती हों, अनगिनत विधवाएँ—बाल-विधवाएँ अपने स्वाभाविक यौवन-जनित कामनाओं की पूर्ति की ओर तनिक भी अग्रसर होते ही पतित और जाति-भ्रष्ट करार दी जाती हों, और तज्जनित यंत्रणाओं के भय से वेश्या बनकर समाज का कलंक बनी हों, वहाँ 'मातृवत् परदारेषु' का नीति भी उसी प्रकार मान्य और व्यवहार्य नहीं हो सकती। [illegible] और [illegible] वह [illegible] मधुर तथा [illegible] हैं किंतु इनका पालन [illegible] तक होना [illegible] जहाँ से जीवन की [illegible] [illegible]। [illegible] बात एक [illegible] के लिये सत्य है, [illegible] वह समाज के [illegible] उसी दशा में होगी।

चाहता है, तो यह उसका अधर्म है, अन्याय है। समाज हमारा एक रूप में पिता कहा जाता है। यदि वह पिता अपने ही निर्दय करों से अपनी संतानों को नष्ट-भ्रष्ट कर सकता है, तो उसका स्वयं नष्ट हो जाना ही अच्छा है। रूसो के कथनानुसार—"व्यक्ति जन्म तो स्वतंत्र लेता है, किंतु आगे चलकर वह अपने को नाना प्रकार से जंजीरों में जकड़ा हुआ पाता है।" उनका यह कथन ठीक है, और हमें इसे गलत प्रमाणित करना होगा। हमें दिखलाना होगा कि हम समाज की मर्यादा बनाए रखते हैं, मान-रक्षा करते हैं, फिर भी हम स्वतंत्र हैं। इसके लिये आवश्यक होगा कि हम पुरातन समाज को भस्मसात् कर दें, और उसके स्थान पर एक नए समाज की स्थापना हो, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति की भावनाओं को स्थान हो। जिसके नियम, आदर्श और सिद्धांत हमारे आचार-विचारों के अनुकूल हों। जिसमें इतनी गुंजाइश हो कि हम पद-पद पर नीति-भ्रष्ट और पतित न हों। जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को स्वेच्छाचार का कुछ न-कुछ अधिकार हो। स्वेच्छाचार की परिभाषा क्या है और वह किस हद तक क्षम्य है इस विषय पर हम फिर कभी प्रकाश डालेंगे।

एक बात अपनी भी कह दूँ यदि अनुचित न कहा जाय मैं थोड़ा-बहुत कवि-हृदय रखता हूँ अतः स्वभावतः ऐसी दुनिया में रहता हूँ जहाँ कल्पना अधिक है। बहुत संभव है

कोई आवश्यक नहीं। जब सब मनुष्य एक ही गुण-स्वभाव-वाले नहीं होते, तो उनके लिये एक ही नियम, एक ही बंधन कैसे सफल हो सकता है ?

हम समाज का विरोध नहीं करते, क्योंकि जैसा मैंने ऊपर लिखा है, इसके द्वारा हमारी एक दूसरे के प्रति सहानुभूति और सेवा की चेतना जाग्रत् होती है। हम तो समाज के उन भ्रामक नियमों का विरोध करते हैं, जिनका अस्तित्व हमें कायर और रस-हीन बना रहा है। समाज में अनावश्यक 'गुरुडम' आ गया है, उसे जाना ही होगा। अब प्रश्न यह रह जाता है कि वह अनावश्यक 'गुरुडम' है क्या ? वे कौन-से नियम हैं, जो हमें पंगु बना रहे हैं ? इसका उत्तर प्रत्येक व्यक्ति अपने अंतःकरण से पूछे, क्योंकि यह गुरुडम भी प्रत्येक व्यक्ति के ऊपर भिन्न-भिन्न रूपों में लागू होता है। एक व्यक्ति की परिस्थितियाँ दूसरे व्यक्ति की परिस्थिति नहीं हो सकतीं, अतः इस प्रश्न का उत्तर भी भिन्न होगा। हमारी समझ में यह गुरुडम है व्यक्ति की भावनाओं पर कुठाराघात करके उसे अपने परिचालित नियमों पर चलाने की चेष्टा तथा उसके ऐसा न करने पर उसे नीति-भ्रष्ट करार देने की मनोवृत्ति। इस मनोवृत्ति का उच्छेदन अनिवार्य है, यदि हम समाज की बलि-वेदी पर व्यक्तियों की लाशें पड़ी नहीं देखना चाहते। खून में रँगे हाथों में रक्त-चर्यो में लिखी हुई अपनी विजय-गाथा लेकर यदि समाज जीवित रहना

चाहता है, तो यह उसका अधर्म है, अन्याय है। समाज हमारा एक रूप मे पिता कहा जाता है। यदि वह पिता अपने ही निर्दय करों से अपनी संतानों को नष्ट-भ्रष्ट कर सकता है, तो उसका स्वयं नष्ट हो जाना ही अच्छा है। रूसो के कथनानुसार—"व्यक्ति जन्म तो स्वतंत्र लेता है, किंतु आगे चलकर वह अपने को नाना प्रकार से जंजीरों मे जकड़ा हुआ पाता है।" उनका यह कथन ठीक है, और हमें इसे ग़लत प्रमाणित करना होगा। हमे दिखलाना होगा कि हम समाज की मर्यादा बनाए रखते हैं, मान-रक्षा करते हैं, फिर भी हम स्वतंत्र हैं। इसके लिये आवश्यक होगा कि हम पुरातन समाज को भस्मसात् कर दें, और उसके स्थान पर एक नए समाज की स्थापना हो, जिसमे प्रत्येक व्यक्ति की भावनाओं को स्थान हो। जिसके नियम, आदर्श और सिद्धांत हमारे आचार-विचारों के अनुकूल हों। जिसमें इतनी गुंजाइश हो कि हम पद-पद पर नीति-भ्रष्ट और पतित न हों। जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को स्वेच्छाचार का कुछ-न-कुछ अधिकार हो। स्वेच्छाचार की परिभाषा क्या है, और वह किस हद तक क्षम्य है, इस विषय पर हम फिर कभी प्रकाश डालेंगे।

एक बात अपनी भी कह दूँ, यदि अनुचित न कही जाय। मैं थोड़ा-बहुत कवि-हृदय रखता हूँ, अत. स्वभावत ऐसी दुनिया मे रहता हूँ, जहां कल्पना अधिक है। बहुत संभव है,

ऐसे समाज का निर्माण, ऐसे नवयुग का प्रादुर्भाव केवल कवि का स्वप्न हो, किंतु इतना अवश्य है कि मुझे यह स्वप्न ही बहुत प्रिय है । मैं एक ऐसी दुनिया का स्वप्न देख रहा हूँ, जिसमे प्रेम के लिये व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता हो, समाज मे धर्म हमारे भ्रम, भय और अंधानुसरण का कारण न हो-कर श्रद्धा, सम्मान और आदर की वस्तु हो, जिसमे शोषण और दोहन की नीति का सर्वथा अभाव हो, और जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को दूसरे की तत्सम स्वाधीनता को ठेस न लगाते हुए लिखने, बोलने और कार्य करने की सर्वांगीण स्वतंत्रता हो । संभव है, इस समाज से हमे हानि हो, किंतु एक बार यह पुनर्निर्माण अवश्य होना चाहिए । इसकी भी कमजोरियाँ देखकर शायद भविष्य मे हम और भी सुंदर समाज-संगठन कर सके ।

तुम क्या हो ?

प्रश्न बहुत सीधा-सा है, और उत्तर भी, यदि देखा जाय, तो सीधा-सा ही है। तुम नारी हो, और कुछ नहीं। ना, तुम नारी के अतिरिक्त कुछ और हो ही नहीं सकतीं।

किंतु सोचो तो, फिर भी लोगों ने इस नारी-शब्द का कितना भयंकर दुरुपयोग किया है। तुम्हारे नारीत्व का कितना कठोर उपहास किया है। तुम्हे यह न भूल जाना चाहिए कि तुम क्या रही हो, और अब भी, इस बीसवीं सदी के सभ्य कहानेवाले संसार की कुत्सित आँखों में, कुछ अंशों मे तुम वही हो, ज्यों-की-त्यों।

एक बहुत प्राचीन बैबीलोनियन धार्मिक प्रथा के अनुसार वहाँ की स्त्रियों को कम-से-कम जीवन मे एक बार 'एफ्रोडाइट' के मंदिर मे जाकर किसी अपरिचित और विदेशी के साथ लज्जा-जनक दुराचार करना होता था। उस समय का बैबीलोन दुराचार और व्यभिचार का केंद्रस्थल बना हुआ था। भारी-भारी लडाइयों की विजय के उपरांत लूट की वस्तुओं से लदी हुई बेबीलोनियन सेना अपने साथ अनेक सुंदरियों को लिए हुए नगर मे प्रवेश करती थी, और वहाँ वे निरीह स्त्रियाँ विजय-गर्वोन्मादी नर-पशुओं की काम-लिप्सा की पूर्ति का साधन बनाई जाती थीं। उन्हे पूरी स्वतंत्रता थी और वे प्रत्येक

मिलीं, जिनके विषय मे लोग अज्ञात थे। कुछ दिन की खोज के बाद पता चला कि यह गुप्त वेश्यालयों मे प्रवेश पाने के टिकट थे। इन पर अशिष्ट, अभद्र आकृतियाँ अंकित थीं, जो इस बात की और भी पुष्टि करती थीं।

भारत में आज जो कुछ होता है, वह तुमसे छिपा नहीं। हम यह जानते हैं कि तुम स्वेच्छा से इस घृणित व्यापार मे प्रविष्ट नहीं होती हो, फिर भी यह व्यापार बढ़ता ही जाता है। प्रसिद्ध लेखक श्रीहैवलॉक एलिस ने अपनी एक पुस्तक मे उद्धरण दिया है—

"इन अभागिनी युवतियों से जाकर पूछो कि वे इस नारकीय कार्य में क्यों प्रवृत्त हुई ? अधिकांश तुम्हे बतावेंगी कि भूख ने, पेट की ज्वाला ने, उन्हें इस गर्त की ओर ढकेल दिया है। असफल प्रेम, माता-पिता द्वारा पीडन और झूठी बदनामी होने के भय ने उन्हें यहाँ इस व्यापार मे ला बिठाया है। दोष-पूर्ण शिक्षा के परिणाम-स्वरूप कितनी ही कुल वधुएँ अपने को समझ पाने मे असमर्थ होती हैं और इस प्रकार उनका पतन होता है। स्वर्गीय प्रेम मे निराशा के कारण उनका विश्वास टूट-सा जाता है और वे अपने को विवाह के अयोग्य समझने लगती हैं। यदि वे विवाहित हैं तो दाम्पत्य जीवन को स्थायी बनाने मे असफल होने का भय उन्हें इस प्रलोभन की ओर खींच लेता है।

असंख्य आलोक चित्रों से जगमग करती हुई गलियों और

सड़कों के किनारे स्थित भवनों की खिड़कियों पर बैठी हुई इन पथभ्रष्टा बहनों को जिसने देखा है, वह एकबारगी ही नहीं कह सकता कि इनके कृत्रिम भू-निपात के पीछे कितनी व्यथा, कितना दर्द भरा पड़ा है। मुख पर बरबस लाई हुई मुसकान मे कितनी परवशता, कितना रुदन भरा पड़ा है! कितनी करुणा निहित है! प्रत्येक कटाक्ष, प्रत्येक मुसकान, प्रत्येक मोहक, किंतु कृत्रिम भावभंगी के बीच मे उनके कोमल हृदयों की एक कसक, एक वेदना और एक परिताप टीस उठता है। एक आता है, दूसरा जाता है, और दोनो के आने-जाने के बीच में जो समय मिलता है, उतनी ही देर में उनके वक्ष पर का उठता-गिरता अचल विक्षेप, घृणा के आँसुओं से भीग-सा उठता है। यह समझना कि वह किसी गंभीर और कोमल अनुभूति का अनुभव नहीं करती, और केवल प्रेम के निम्न रूप से ही परिचित हैं, उनके प्रति अन्याय करना है। जिसने उन्हे जाना है, माना है, और पहचाना है, वह तुरंत कह देगा कि उनमे भी वे ही गुण हैं, वही मातृत्व है, दानशीलता है, गंभीर मनन-शक्ति और उदारता है। वेश्या-प्रथा आज समाज का एक आवश्यक अंग बन गई है, और उसे समूल नष्ट करने का बड़े-से-बड़ा उपाय भी असफल सिद्ध हो चुका है।

इतना अपमान, घृणा और प्रपीड़न सहकर भी खुले आम ी इज्जत, आत्मसम्मान, अपना शरीर, मन क्रय-

यह कैसा सुहाग ?

कहना चाहूँ, तो कह सकता हूँ कि पड़ोस की इस त्यक्ता, उपेक्षिता, पति के मनोराज्य से निर्वासिता युवती की ओर से मुझे कुछ आकर्षण है, व्यथा है, मन में कुछ कोमल, उजले, पर दुनिया की निगाह में काले भाव हैं।

और यह नारी, नर का उपहास बनी हुई नारी है कौन ?

कुछ दिन हुए, यही कुछ थोड़े-से वर्ष, जब इस छोटी-सी, सुंदर-सी युवती की माँग सिंदूर की लंबी रेखा से लाल की गई थी। लोगों ने गाने गाए थे, सुने थे, सगे-संबंधियों ने उमंग से, उछाह से भर पेट पकवान खाए थे, माता-पिता अपने जीवन के एक बहुत बड़े ऋण से छुटकारा पा रहे थे। और, सबको प्रसन्न देखकर स्वयं भी प्रसन्न यह युवती समझ रही थी कि उसकी अब तक की अकेली, एकांत दिल की दुनिया में एक कोई और आ रहा है। वह कोई, जिसे अब तक वह न जानती थी। वह कोई, जिसकी बोली अब तक उसने नहीं सुनी थी, और वह कोई, जो उसका तन, मन, धन, जीवन, यहाँ तक कि मुक्ति भी बनकर आ रहा है। वह आया, और खूब आया। ऐसा आया कि न आना ही अच्छा होता। कम-से-कम कुछ दिन और तो उसके जीवन में हाहाकार होने से

पूछता हूँ, सुहाग का शव लेकर चलनेवालों के लिये क्या जीवन के लंबे पथ में पल-भर कुछ रुककर, मन-बहलाव कर लेना भी आदर्शवाद की दुरूह भाषा में पाप कहा जाता है ?

और खुलकर खेल पाने की आग जलाए रहती हैं ? क्यों ऐसे पति हैं, जो बाकायदा 'पत्नी'वाले होते हुए भी 'पत्नी' के संग की मधुरता अपने में न ला सके, उसके न बन सके ; अपनी ज़िद अथवा दूसरों के हस्तक्षेप से जल्दबाजी और अज्ञान के शिकार बनकर जो 'विवाहित कुमार' बने हैं ; धीरे-धीरे जिन्हें 'स्त्री'नामधारी प्राणी से घृणा-सी हो चली है, फाग के नाम पर जिनकी आँखों से आग बरस पड़ती है ? क्यों ऐसे फटे चीथड़ों में अपनी दरिद्रता छिपाने का सतत प्रयास करते रहनेवाले 'दरिद्र-नारायण' हैं, जिनके रात और दिन, भूख और प्यास, सुख और दुख, हास और रुदन भयंकर बेकारी, महामारी और लाचारी के पाटों के बीच पिस रहे हैं और जिनके लिये दशहरा दीवाली और होली मुँह चिढ़ाने के ही लिये आते हैं शान्ति का, सन्तोष का और तृप्ति का सन्देश लेकर नहीं ?

ये सब यों हैं कि इनके जीवन में एक स्वाभाविक विर- [illegible]

हमारे कहने का मतलब केवल यही है कि अगर दुनिया को बरक़रार रहना है, तो वह इन भोले-भाले मानवों के अस्तित्व की अवहेलना करके नहीं बनी रह सकती। उसे इन्हें अपने बीच स्थान देना ही होगा। ये बेचारे तो स्वयं तड़प रहे हैं। किसी स्नेही के, प्रेमी के और सहानुभूति के हाथ की अपेक्षा रखते हैं। हमें इनके हृदय की गहराई तक जाना है। हम यह कभी नहीं कहते कि इन्हें अपने मन की करने दिया जाय, इनकी अनुचित प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन दिया जाय, इनकी दुर्बलताओं को खुलकर खेलने का अवसर दिया जाय। किंतु साथ ही हम यह भी मानते हैं कि मानव मानव बनकर ही रह सकता है, देवता बनकर नहीं। दुनिया आदमियों के लिये बनी और कायम है। देवता इस दुनियाके उस पार,तीन लोक, चौदहो भुवन, सत्ताइस नक्षत्रों और बारह राशियों और किन-किन सीमा लोकों से बँधे-बँधे अपनी दुनिया अलग लिए बैठे हैं। उनकी दुनिया में भले ही कृष्ण का, 'भगवान' कृष्ण का, एक साथ कई-कई गोपियों के साथ रास रचाना परम 'पुण्य' और आदर्श हो, देवाधिदेव 'इन्द्र' गुरु-पत्नी अहल्या के साथ पापाचार करके भी देवाधिदेव बने रह सकते हों, महर्षिवर पराशर 'मत्स्यगंधा' के अनल-विनल-मनोहारिणी छवि पर, रूप पर, रीझकर, नकली अंधकार की सृष्टि कर उसका सतीत्व भ्रष्ट करके भी निष्पाप और महर्षि बने रह पाते हैं, और कौन-कौन क्या-क्या अनीति करके भी दुनियावालों के लिये पूज्य, मान्य, आदर्श

रखनेवाला कलाकार—थोड़ी देर मौन रहा, और फिर बोला—"कह नहीं सकता। सब परिस्थितियों के ऊपर निर्भर है। और फिर, कुछ बातें उपन्यास की रोचकता बढ़ाने के लिये लिखनी आवश्यक होती हैं।" और बातें यहीं तक आकर रह गईं कि 'हाथी के दाँत खाने के और, दिखाने के और।' लेकिन मैं यही कहना चाहता हूँ कि आदमी हाथी नहीं है। उसके दाँत भी एक ही हैं। आखिर ऐसा क्यों हो कि हम कहें कुछ, और करें कुछ। कुछ बातों से हम इनकार नहीं कर सकते। इनका अस्तित्व है, और रहेगा। 'अपनेपन' को भूल जाना कम-से-कम 'आदमी' को शोभा नहीं देता। यही बात आज से कुछ दिनों पहले मैंने अपने 'नैतिक माप-दंड और समाज' शीर्षक लेख में कही थी, और यही अब भी कह रहा हूँ।

> "इश्क ने हमको निकम्मा कर दिया,
> वरना हम भी आदमी थे काम के।"

यह राग अलापनेवालों की हस्ती दुनिया जब तक नहीं स्वीकार करती तब तक मेरी प्रार्थना है कि जैसे उन त्रिनेत्रधारी मदन दहनकारी ने रति-पति कामदेव को भस्म कर दिया था वैसे ही इस तरह आदर्शवाद की माया को भी पल भर में जलाकर राख कर दें ताकि इन 'प्रेमियों' को प्रतिवर्ष होली के अवसर पर [illegible] का प्रश्न न सताए। होली तो हर साल आती और चली

जाती है। अगले वर्षों भी आएगी, और चली जायगी, लेकिन अहर्निश जलते रहनेवालों की होली कभी नहीं शांत होगी—कभी नहीं जायगी। ये हर साल इस मौके पर दरो दीवार से, सूनी हवा से, चुप-चुप नक्षत्रों से और स्वयं अपने से पूछते रहेंगे—काके सँग खेलूँ फाग ?

'मेरी' भाभी

याद आता है, कलकत्ते में रहते समय वहाँ की किसी पत्रिका में 'सतीत्व एक कला है'-शीर्षक एक लेख देखा था, और साथ ही यह भी सुधि होती है कि इस ज़रा-सी बात पर ज़ोरों में वाद-विवाद चल पड़ा था। लेखक महोदय का कहना था—"सतीत्व एक साधना है, तपस्या है, नारी-जीवन की सर्वश्रेष्ठ कला है।" सो, आज तक यह बात समझ में नहीं आई। साधना, तपस्या, कला ? तो क्या दुनिया के समस्त बड़े साधक, तपस्वी और साधु महान् कलाकार होने का दावा कर सकते हैं ? जहाँ तक मैं जानता हूँ, उन साधक महाशयों में अधिकांश तो कला का गला घोटने में बाज़ी ज़रूर मार ले गए होंगे।

भारतीय हिंदू-समाज, भारतीय परिवार और भारतीय संस्कृति में भाभी का एक विशिष्ट स्थान सदैव रहा है, जिसे मैं प्रचलित सतीत्व के अर्थ का विशुद्ध उपहास और सतीत्व की समस्त लुभावनी शक्तियों पर ज़बरदस्त प्रहार मात्र समझता हूँ। आश्चर्य है कि अपने कठोर नियम-बंधनों, आदर्शवादी शब्दों और वाक्य-जालों पर तनकर अड़े रहनेवाला हिंदू समाज अपने ही बनाए हुए उसूलों की इतनी बड़ी अवहेलना देखकर भी चुप

समझने लगीं, और चूँकि सीता, राम और लक्ष्मण को आदर्श के रूप में चित्रित करना था, अतः चुपके से देवर का अस्तित्व तुलसी आदि को मानना पड़ा। हाँ, यह बात दूसरी है कि इस कहानी का, इस ढोंग का, निर्वाह यों कर दिया गया कि लक्ष्मण ने ताज़िंदगी सीता के पाँव ही देखे, अथवा यों कहें कि सीता ने ताज़िंदगी उन्हें अपने पाँव ही दिखाए। आदर्श की रक्षा तो हो ही गई, अँगूठा नहीं दिखलाया, यही क्या कम है ?

चाहे तुलसी दबकर मानें या न मानें, चाहे दुनिया खुलकर मानें या न मानें, हम यह मानते और जानते हैं कि भाभी सदा से भारतीय गृह में, परिवार में और आदमियों के जीवन में उभरती हुई रही चली आई है। लक्ष्मण पाँव देख-कर रुक गए भले ही सीता पाँव दिखलाकर रुक गई [illegible] दी, पर वह आदर्श थे—रामायण के नायक-नायिका [illegible] न कोई देवर पाँव देखकर [illegible] सकता है [illegible] भाभी पाँव [illegible] दिखलाकर [illegible] [illegible] [illegible]

पोथे-पुराण, नियम और बंधन तथा आदर्श कुर्बान जायँगे, और तब भी भाभी तो भाभी ही बनी चली जायगी।

और, यही जरूरत महसूस होती है कि मैं अपनी भाभी को खोल दूँ। मेरी भाभी संकुचित नहीं, उदार है। मेरे लेख की 'भाभी' हमारे घरों की प्रचलित भाभी से भिन्न है। भाभी को मैंने इस अर्थ मे लिया है कि वह स्त्री, जिससे दो घड़ी मन की बात कहने को मन करे, हँस-बोल लेने को जी चाहे, और उससे स्नेह का आदान-प्रदान कर अपने जीवन की रिक्तता पूरी की जा सके। हम पाते हैं कि आचार-शास्त्र के कठोर बंधनों के बावजूद भी यह नाता सदा से रहता आया है, और किसी-न-किसी रूप मे समाज ने इसे जायज माना है।

मेरा यही कहना है कि जिनके साथ हमारा और कोई नाता ठीक नहीं उतरता, उन्हें इस 'भाभी' के रूप मे अपनाना क्या हमारे लिये अवाञ्छनीय होगा? नाते नियत करने मे समाज पक्का है, यह माना, लेकिन जहाँ उसके बनाए नाते ठीक उतरने के बजाय हमें भारी हो जायँ, वहाँ क्या हमें उन्हें ढोते ही जाना चाहिए? कहा जा सकता है कि जूते भी काटने पर फेंक नहीं दिए जाते, पहनते-पहनते अभ्यास डाला जाता है कि न काटें, लेकिन मैं कह दूँ कि नारी मेरे निकट जूते से बड़ी चीज़ रही है। सती बनकर स्त्री देवी हो जाती है, नारी बनी रहकर मानवी रहती है। नारी चूँकि पहले सती बनकर नहीं, नारी बनकर पत्नी बनती है, अतः नारीत्व पहले की चीज़ है,

सतीत्व बाद की, और भाभी बनना तथा बनते चलना नारीत्व की माँग है, सतीत्व की नहीं। जरा कल्पना तो करें उस दिन की, जब सब स्त्रियाँ हमारे सामने आने पर बोल उठें—खबरदार, जो हमारी ओर आँख भी उठाई। वत्स, वर माँगो। क्या चाहते हो—और 'मातृवत्परदारेषु' की नीति के अनुसार आपको देखकर उनका मातृप्रेम उमड़ पड़े। मुझे यकीन है, दुनिया का बड़े-से-बड़ा आदर्शवादी भी आदर्श भूल जायगा, और नास्तिक भी पल-भर के लिये भगवान् का नाम ले लेगा कि इस बला से गला छूटे।

दुर्भाग्य से हममें से कितनों के जीवन मे भाभी का स्थान सदैव रिक्त रहा है, पर यह भी दुर्भाग्य है कि जीवन मे कितनी ही स्त्रियाँ भाभीवत् बनकर आती और चली जाती हैं। मैं जानता हूँ, यदि वह न आ गई होतीं, तो हम 'हम' न होते, और वह 'वह' न होतीं, तथा समाज के कारण अलग हो जाने पर हम 'हम' न रह गए, और वह 'वह' न रह गईं। और चूँकि यह भी विश्वास है कि दुनिया मे अभी हमारे-जैसे 'आदमी ही ज्यादा हैं देवता कम अत यह भी चुपचाप मानना पड़ेगा कि भाभी-जैसे रिश्ते-नाते दुनिया के खात्मे तक बने रहेंगे। सतीत्व की जड़ पर थोड़ा कुठाराघात हो, तो हो, पर यह जाहिर है कि अकेले सतीत्व की नींव पर पुख्ता महल नहीं खड़ा हो सकेगा ईंटों के साथ-साथ थोड़ी पानी की बूँदों और गारे-चूने की भी आवश्यकता पड़ेगी ही, तथा भाभी और

सतीत्व या परिपूर्ण नारीत्व

भारतीय महिलाओं के स्वभाव से जो व्यक्ति परिचित है, फिर चाहे वह युग-युग के पड़े गलत या सही संस्कारों के कारण हो अथवा अन्य किसी कारण से, वह यह निश्चय रूप से कहेगा कि सौ पीछे कम-से-कम पंचानवे स्त्रियाँ ऐसी होती हैं, जो अपने 'पति' बनाए गए पुरुष को सर्वोपरि मानती हैं, स्वप्न में भी उसी की पूजा करती हैं, जो असंख्य अवगुणोंवाले 'पति' को भी न पूजने से यमपुर दुख नाना' का विधान मानती हैं। स्वभावत धर्मभीरु और कमजोर होने के कारण वे इस आदर्श से विपरीत जाने का स्वप्न भी नहीं देखतीं। हमने देखा है, विद्या, बुद्धि, रूप और गुणों में पति परमेश्वर' से कहीं अधिक आगे रहनेवाली स्त्रियाँ भी श्वशुरपुर जाकर अपने को ऐसा उनके अनुकूल बना लेती हैं कि आश्चर्य होता है। यमदूत-जैसे पति भी उनके लिये देवता बन जाते हैं। वे स्वप्न में भी किसी अन्य पुरुष द्वारा आनन्दोपभोग की कल्पना भी नहीं करतीं।

नारी दुर्बल है, पुरुष शक्ति से लोहा लेने की उसके पास सामर्थ्य नहीं। ऐसी दशा में यदि एक अन्य पुरुष उसकी इस कोमलता, दुर्बलता का नाजायज फायदा उठाकर उस पर अन्याय-अत्याचार कर डालता है तो समाज उस पुरुष का त

तो शायद उसे 'असती' कहा जा सके, किंतु असहमति होने पर, स्त्री को 'अबला' समझनेवाले समाजशास्त्री इस विषय में क्यों उसे बल का अवतार समझने लगते हैं, यह बात समझ में नहीं आती।

तीसरी प्रकार की परिभाषा देनेवाले वे हैं, जो सतीत्व को शरीर और मन, दोनो की वस्तु मानते हैं। इनकी बात कुछ ठीक जान पड़ती है। किंतु जहाँ वे इस परिभाषा को पंख काटकर पींजरे में बंद करने लगते हैं, वहाँ यह परिभाषा उपहासास्पद बन जाती है। यहीं वे परिपूर्ण नारीत्व और सतीत्व में भेद-सा करते दिखाई पड़ते हैं। उनका कहना है, स्त्री शरीर और मन से केवल एक की ही बन सकती है। हम भी मानते हैं कि स्त्री का शरीर और मन एक समय केवल एक व्यक्ति को ही दिया जा सकता है। लेकिन ऐसा कहने के समय ये समाजशास्त्री यह क्यो भूल जाते हैं कि स्त्री किसी की पुत्री भी होती है, किसी की माता भी होती है, बहन, भाभी, साली भी होती है, और जाने क्या-क्या होती है। इन रिश्तों को तो समाज कभी नहीं भूलता, बल्कि कसकर पकड़े रहता है। केवल झगड़ा वहाँ उठ खड़ा होता है, जहाँ एक स्त्री किसी को मित्र बनाने चलती है। स्त्री दुनिया-भर के सबकी सब कुछ लगती रहे, मित्र न लगे, तभी कल्याण है, अन्यथा सारी दुनिया उसके ऊपर 'सतीत्व-भंग' का अपराध आरोपित करने को तयार है। कहा जा सकता है कि मित्रता की भावना और

कमज़ोर हैं, जो अभी माता-पिता, पति, भाई या ऐसे ही और किसी के अधिकार में हैं। हम देखते हैं, स्त्रियाँ, जो वकील हो गई हैं, डॉक्टर हैं, प्रोफ़ेसर हैं, या अन्य किसी पद पर हैं, इस समाज में 'सतीत्व' की संकुचित परिभाषा से अलग जा पड़ती हैं, क्योंकि उनके पास रुपया है, विद्वत्ता है, साहस है, और उनके पास आने से समाज डरता है। वे मित्रों के साथ हँसती-बोलती हैं, खाती-पीती हैं, उठती-बैठती और घूमती हैं। उस समय समाज केवल 'बड़े आदमियों की बड़ी बात' कहकर चुप बैठ रहता है। स्त्रियों को पूर्ण स्वाधीनता दे देने से, मित्र बनाने की स्वतंत्रता दे देने से, यदि हानि होती हो, तब भी हम यही कहेंगे कि यह हमारी दुर्बलता है। उन्हें ग़लत राह पर जाते देखकर हमें उन्हें बुरा कहने के पहले अपना इलाज करना चाहिए। हमारी कमज़ोरी और अयोग्यता ही उन्हें कोई गंभीर परिस्थिति ला खड़ी करने पर बाध्य कर सकती है, अन्यथा किसी पुरुष की मित्रता-भर से उनका 'सतीत्व' नष्ट नहीं हो सकता। एक साथ ही वह 'पत्नी' और 'मित्र' दोनो हो सकती है। यह बात दोनो पक्षों के लिये है। पुरुष स्त्री मित्र रक्खे अथवा स्त्री पुरुष मित्र रक्खे, इसमें समाज की मर्यादा भंग नहीं होती, और यदि होती हो, तो उससे ज़्यादा नहीं, जितना पर्दे में, सीमालोकों से बँधे-बँधे रहने पर भी, होती है।

परिपूर्ण नारीत्व या परिपूर्ण मनुष्यत्व क्या है ? वह किसी

विलास की देवी

लोग उसे वेश्या कहते हैं। किंतु कहने के पहले कभी किसी ने उसके हृदयस्थ भावनाओं पर भी विचार किया है? समाज की जिस कठोर यंत्रणा की चक्की से पिसकर उसे ऐसा नारकीय जीवन व्यतीत करने पर बाध्य होना पड़ा है, जिस एकांगीय, एकपक्षीय नियम की बलि-वेदी पर उसने अपना अनमोल सतीत्व न्योछावर कर दिया है, जिस आडंबर-पूर्ण, अर्थ-शून्य और तर्क-हीन न्याय के क्रूर हाथों ने उसके अरमानों को कुचल दिया है, उस यंत्रणा, नियम तथा न्याय के निराकरण एवं विश्लेषण की भी किसी ने चेष्टा की है? इसका एक—केवल एक उत्तर है। और वह यह कि पुरुष सर्वशक्तिमान् है, परमात्मा है, और स्त्री के सुख-दुख तथा भविष्य का एकमात्र विधायक। उसे इतनी छुट्टी नहीं कि वह इन अनीतियों, कुप्रवृत्तियों तथा अनुचित कर्मों का विवेचन करे। वह देवता है, स्त्री का भाग्य-सूत्र उसके हाथ में है। वह विधाता है, स्त्री के भविष्य का निर्माण वह स्वयं करना चाहता है। और, जो उसका यह शासन न माने, उसके पतन के ... गड्ढे में गि... ने पर यह पुरुष-समाज पैशाचिक ... करना अ... ...म कर्तव्य समझता है।

एक से ही संपूर्ण रूप से संबंधित हो लेने पर ही नहीं समाप्त हो जाता। वह दुनिया में भिन्न-भिन्न लोगों से भिन्न-भिन्न प्रकार का संबंध रखता है, फिर भी गौरव से च्युत नहीं होता। परिपूर्ण मनुष्यत्व कभी गौरव-हीन या पतित नहीं होता, वह तो सदैव मान्य है, ग्राह्य है, और है मानव-जीवन का सबसे बड़ा आदर्श। वही मनुष्यत्व एक स्त्री के पास आकर उसका परिपूर्ण नारीत्व बन जाता है। वह 'पत्नी' होते हुए भी माता, बहन, बेटी, साली और भावज होने के साथ ही मित्र बनने के अधिकार से पतित नहीं होती। यह हमारा कुसंस्कार और रूढ़ि-पालन ही है, जो हम उसे इस अधिकार से वंचित रखना चाहते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि आदर्श के अंध-पालन को छोड़कर हम स्त्रियों को भी मनुष्योचित अधिकार दें। उन्हें मानवता की उन सुविधाओं से अलग न रक्खें, जिनके बिना एक व्यक्ति का जीवन अपूर्ण रह जाता है। सिद्धांत-पालन में, मनोविज्ञान को एक ओर रखकर, मानवता का गला न घोट डालें, और आदमी के 'आदमी' रहने का सारा हक़ न छीन लें।

विलास की देवी

लोग उसे वेश्या कहते हैं। किंतु कहने के पहले कभी किसी ने उसके हृदयस्थ भावनाओं पर भी विचार किया है? समाज की जिस कठोर यंत्रणा की चक्की से पिसकर उसे ऐसा नारकीय जीवन व्यतीत करने पर बाध्य होना पड़ा है, जिस एकांगीय, एकपक्षीय नियम की बलि-वेदी पर उसने अपना अनमोल सतीत्व न्योछावर कर दिया है, जिस आडंबर-पूर्ण, अर्थ-शून्य और तर्क-हीन न्याय के क्रूर हाथों ने उसके अरमानों को कुचल दिया है, उस यंत्रणा, नियम तथा न्याय के निराकरण एवं विश्लेषण की भी किसी ने चेष्टा की है? इसका एक—केवल एक उत्तर है। और वह यह कि पुरुष सर्वशक्तिमान् है, परमात्मा है, और स्त्री के सुख-दुख तथा भविष्य का एकमात्र विधायक। उसे इतनी छुट्टी नहीं कि वह इन अनीतियों, कुप्रवृत्तियों तथा अनुचित कर्मों का विवेचन करे। वह देवता है, स्त्री का भाग्य-सूत्र उसके हाथ में है। वह विधाता है, स्त्री के भविष्य का निर्माण वह स्वयं करना चाहता है। और, जो उसका यह शासन न माने, उसके पतन के गहरे गड्ढे में गिर जाने पर वह पुरुष-समाज पैशाचिक अट्टहास करना अपना परम कर्तव्य समझता है।

होता है। वह विचार करने लगती है कि पुरुष हमें खिलौना समझता है, अपने विलास की कुत्सित परितृप्ति का साधन समझता है, तथा हमारा अस्तित्व उसकी दृष्टि में एक पालतू चिड़िए से अधिक नहीं।

यदि कोई पूछे कि संसार में सबसे कोमल वस्तु क्या है, तथा सबसे अमूल्य वस्तु कौन-सी है, तो मैं कहूँगा कि समस्त विश्व की कोमलता का एकत्रीकरण एक नारी के हृदय में है, तथा सबसे अमूल्य वस्तु उसका सतीत्व है। सौभाग्य अथवा दुर्भाग्य से एक वेश्या के पास भी ये दोनो निधियाँ हैं, किंतु उनके प्रकटीकरण का हम उसे अवसर नहीं देते। उसका हृदय हमारे खेल का एक साधन है, तथा उसका सतीत्व! समाज के अंधे भक्त कहते हैं—वेश्या के पास सतीत्व कहाँ? यदि वह ऐसी सती होती, तो बाजार में आकर क्यों बैठती? जिसने अपने रूप को प्रदर्शन का साधन बनाया, जिसने अपने हृदय को विलास-देवता के चरणों पर निछावर कर दिया, वह इसी योग्य है कि उससे घृणा की जाय, उसका मुख तक न देखा जाय, उससे किसी प्रकार का संबंध न रक्खा जाय।

यह हम-आप सभी मानेंगे कि वेश्या का निर्माण विधाता ने—यदि वह कोई है तो—अलग नहीं किया है। हमारी ही छत्रच्छाया मे वह पली है, हमारे ही दोषों के कारण उसकी जाति को निरंतर प्रोत्साहन मिल रहा है। ऊपर एक छोटी-सी घटना दी गई है। इसका आप क्या अर्थ लगाते हैं?

भारत की देवी-जैसी नारियों में त्याग का, निष्ठा का, एकपति-व्रत का आदर्श बहुत पुराना रहा है। एक पुरुष ही, चाहे वह कैसा भी क्यों न हो, उनकी पूजा का, आराधना का, तपस्या का आधार रहा है। वही पुरुष यदि पतन के गहरे गड्ढे की ओर अबाध गति से बढ़ने लगे, दुराचार, अनीति तथा अत्याचार की प्रवृत्ति उसमें बलवती हो उठे, तब ? आप यह कहेंगे कि सच्ची साध्वी वही है, जिसका पति-प्रेम "सघन, अभेद्य अंधकार में भी हिमालय की भाँति दृढ़, ध्रुवतारे के समान प्रकाशमान हो।" किंतु ऐसी दशा में, सब कुछ चुपचाप सहते रहने पर भी, उस नारी के अंतःकरण के भीषण विद्रोह का आप क्या परिणाम सोचते हैं ? और, यह आप अच्छी तरह समझते हैं कि अंतस्तल की ज्वाला मनुष्य को तिल-तिल कर जलाती रहती है, और उसे इस जीवन के अयोग्य बना देती है। यह एक ऐसी आग है, जो जीवन की सारी प्रवृत्तियों को झुलस कर उसे नीरस मरुभूमि बना डालती है।

छः-सात वर्ष की बालिका का विवाह एक आठ-नौ वर्ष के बालक के साथ होता है। घर-भर में मंगल-वाद्य बजते हैं, पास-पड़ोस के लोग आनंदोत्सव मनाते हैं, बालक समझता है कि यह भी एक तमाशा है। वह गुड़िया-बहू ससुराल आती है, नहीं तो अपने घर रहती है, किंतु उसके काले-काले बालों को सुघराई से दो भागों में बाँटनेवाली श्वेत रेखा को सिंदूर से लाल बना दिया जाता है, और वह सदा सुहागिन कहलाती

महाभारत में एक छोटी-सी कथा है। एक बार वीरवर अर्जुन इंद्रालय में कोई शस्त्र लेने गए थे। वहाँ अनिंद्य रूपशालिनी उर्वशी ने इन्हें देखा। इनकी शूरता तथा सुंदर मुखाकृति पर वह एकबारगी ही अपना हृदय हार बैठी। उसने इनसे प्रणय-याचना की, प्रेम की भिक्षा माँगी। अर्जुन, सरल-हृदय अर्जुन, ने उसके प्रेम की अवहेला की, उसे पूज्या बताया, तथा यह संकेत किया कि उनका और उर्वशी का प्रेम जन्म-जन्मांतर के लिये असंभव है। उर्वशी ने इस पर क्रोधित होकर अर्जुन को शाप दिया था—"तुमने एक कामार्थिनी नारी का अपमान किया है, उसकी इच्छा को ठुकराया है, अतः तुम एक वर्ष तक नपुंसक बनकर रहोगे।" कहना न होगा कि एक वर्ष तक अर्जुन इधर-उधर घूमकर नाच-गाना सिखाते फिरे। इसका तात्पर्य यह है कि उस अति प्राचीन समय में भी वेश्याओं का इतना प्रभाव था, और निष्पाप कहलानेवाले देवताओं में भी इसका प्रचार था।

वेश्या-प्रथा का जन्म कब और कैसे हुआ, यह प्रश्न स्वयं उतना ही दुरूह तथा जटिल है, जितना यह कि संसार में दुराचार का प्रवर्तक कौन है ? अन्य धर्मों तथा मतों में व्यभिचार की भी एक अलग देवी मानी गई है, जैसे 'वीनस', 'डाइना' इत्यादि। किंतु भारत में, जहाँ तक पता लगता है, ऐसी कोई देवी नहीं। मनुष्यों में प्रथमतः नरश्री पुरूरवा से देवभोग्या उर्वशी का संबंध हुआ था, ऐसा पता लगता है। वेदों में भी

वेश्याओं के वर्णन मिलते हैं। भगवान बुद्ध के विषय में भी एक ऐसी ही मनोरंजक कथा का प्रचलन है। जिस समय वह अन्य स्थानों का भ्रमण करते हुए वैशाली पहुँचे, उस समय वहाँ की प्रसिद्ध गणिका अंबपाली उनके पास गई थी, तथा उन्हें भिक्षु-संघ-सहित अपने घर भोजन के लिये आमंत्रित किया था। लोगों ने भगवान् को बहुत रोका, उन्हें अपने यहाँ निमंत्रित किया, किंतु बुद्ध इन सबकी उपेक्षा कर उस वेश्या के यहाँ भोजन करने गए। असंत, पतित समझी जानेवाली वेश्या के प्रति बुद्ध की ऐसी उच्च धारणा थी! प्राचीन मंदिरों में देवदासी-प्रथा की बहुतायत थी। ये कुमारिकाएँ होती थीं, और इनका काम मुख्यतया देव-प्रतिमाओं के आगे नृत्य-गान करने का होता था। कहीं-कहीं इनका कार्य वीभत्सता में भी परिणत हो जाता था, अतः इन्हें साधारणतया गणिकाओं की श्रेणी में रक्खा जा सकता है।

समाज की इस विकृत कही जानेवाली जाति के संबंध में यह कहना कि यह कब और कैसे बनी, असंभव-सा है, यह आप समझ गए होंगे। इनके संबंध में इतनी अधिक भावुकता और तर्क-शून्यता का कोई कारण नहीं। ये सदैव समाज के साथ ही रही हैं, और जब तक समाज रहेगा, वेश्याएँ बनी रहेंगी। समाज का एक भाग ऐसा है, जो सदा ही नूतनता का उपासक है, और उस भाग की इच्छा-पूर्ति के लिये इनका होना अत्यावश्यक है। यदि इन समाज

के इस अग को अपने से अलग नहीं कर सकते—और जैसा प्रायः देखने मे आता है—तो हम अपनी इन गुमराह बहनों के अस्तित्व को भी एकदम नहीं भुला सकते। हमने अपने घर की स्त्रियों के जीवन को इतना नीरस, शुष्क तथा भाव-हीन बना दिया है कि वे हमारे अंतःकरण के किसी अज्ञात कोने में दबी हुई प्यास, ज्वाला और तृष्णा को बुझाने मे समर्थ नहीं हो पातीं, अतः हमारा रस-लोभी हृदय अपने संतोष के लिये इधर-उधर भटकता फिरता है। और, ऐसा होना बिलकुल स्वाभाविक है। इन्हें बचपन से ही ऐसी शिक्षा दी जाती है कि पुरुष-हृदय को किस प्रकार अपना दास बनाया जा सकता है। और, कहना न होगा कि वे इस कला मे पारंगत होती हैं। नर और नारी इन दोनों का पारस्परिक संबंध प्रधानतः एक दूसरे की सुप्त अभिलाषाओं को जगाने तथा आनंद की शत-शत धाराओं में प्रवाहित करने के लिये है, और एक पुरुष यदि इसी भावना के वशीभूत होकर कहीं जाता है, तो वह पतित, हेय तथा नगण्य कदापि नहीं हो सकता।

हॉ—हमे, यदि हम विवाहित हैं, तो अधिक सतर्क रहने की आवश्यकता है। वह इस प्रकार कि हम स्वयं अपने ही घरों में वही रस-माधुरी उँड़ेलने का सतत प्रयत्न करें, जो हमें इन वेश्याओं के यहाँ मिलती है। वही सुधा-धारा प्रवाहित करें, जिसमे स्नान करने के लिये हम इन पतिता बहनों के यहाँ जावे

मदिरा पिए, और घर आकर नाक दबाकर बैठ रहे, समाज कुछ न कहेगा, देखकर भी अनदेखा बना रह जायगा। उस पुरुष की यह विलास-वृत्ति रियासत, बड़प्पन तथा गुण-ग्राहकता में गिनी जायगी। किंतु बेचारी स्त्री ? थोड़े-से ही अपराध पर उसे घर से निकाल दिया जायगा। वह यदि अपने यौवन-जनित स्वाभाविक कामनाओं की वेदी पर बलि होती है, तो समाज उसे पतित, घृणित तथा अग्राह्य समझता है।

कब और कहाँ, यह तो नहीं बतला सकता, किंतु इस संबंध में मेरा भी एक छोटा-सा महत्त्व-पूर्ण अनुभव है। मेरे एक मित्र ने मेरे सामने ही किसी ऐसी ही 'पतिता' से पूछा था—"तुम्हारे यहाँ इतने लोग आते हैं, धनी भी, निर्धन भी, रूपवान् तथा कुरूप भी ; किंतु क्या किसी के प्रति तुम्हारे हृदय में सहज स्नेह का उदय होता है ?" उस बहन ने अपना आरंभिक इतिहास बताया, और अंत में कहा—"इस प्रकार आप देखते हैं कि मुझे अपने पूरे परिवार की अपनी जीविका से रक्षा करनी पड़ती है। दुर्भाग्य से विधाता ने मुझे ही इस योग्य बनाया कि मैं अपना सतीत्व बेचकर उनका भरण-पोषण करूँ। मुझे पुरुषों की सूरत भी, चाहे वह कैसे भी हों, काल-जैसी मालूम होती है, किंतु उनकी उपेक्षा भी तो नहीं कर सकती। छोटे भाइयों, बहनों तथा माता की करुण दृष्टियाँ जो मेरे सामने आकर खड़ी हो जाती हैं। मैं तो आज यह